समाधि-दिन प्रवचन

श्रीमद् राजचन्द्र समाधि दिन

पूज्य गुरुदेवश्री का मंगल प्रवचन—स्थान राजकोट

... दिन है। आत्मा की पर्याय में असमाधि अर्थात् अशान्ति से अर्थात् कि अधर्म भाव से जो भटकता है, उसे धर्म कैसे हो और शान्ति कैसे हो, यह इसका नाम समाधि है। समाधि कोई शरीर की क्रिया या वाणी, मन या अन्दर में हठयोग से कोई श्वास को रोधन करना या रेचक, कुम्भक करना, वह कहीं समाधि नहीं है, अतः जो कोई मनुष्य आत्मा का हित करना चाहता है तो वह हित आत्मा की वर्तमान उसकी पर्याय में अहित हो, तब तो अहित को पलटाकर हित करना चाहता है। कहो, समझ में आया?

आत्मा जो वस्तु है, आत्मा पदार्थ है, ऐसा कहते हैं कि मुझे कुछ हित करना है, ठीक करना है, श्रेय करना है, कल्याण करना है, भला करना है, धर्म करना है और सुखी होना है—सब एकार्थ है, तो इसका यह अर्थ होता है कि यह आत्मा वर्तमान इसकी पर्याय अर्थात् अवस्था में अहित, अश्रेय, अधर्म, अशान्ति, दुःखी, असुखी है। इस प्रकार इसकी आत्मा की वर्तमान पर्याय अर्थात् अवस्था में यह कहाँ अधर्म होता है, यह इसे निर्णय करना चाहिए। अधर्म आत्मा की वर्तमान किसी पर्याय—अवस्था—हालत में होता है। वह अधर्म, अहित, अश्रेय, अकल्याण... ...भाई! हित करना चाहता हूँ, श्रेय-कल्याण करना चाहता हूँ तो वहाँ क्या अहित, अश्रेय (होता है, वह इसे समझना चाहिए)।

त्रिकाल चैतन्य अनादि-अनन्त ज्ञान-दर्शन का पिण्ड ध्रुव चीज़ है, उसकी वर्तमान हालत में अधर्म अर्थात् अपना जो शुद्ध चैतन्यस्वभाव पवित्र है उसे... पलटनेयोग्य माने और इतना पहले निर्णय करना चाहिए कि इस आत्मा का जो अहित और अश्रेय, अधर्म मैं मिटाना चाहता हूँ, वह क्या शाश्वत् चीज़ है? यदि शाश्वत् चीज़ हो तो उसे मिटाना चाहकर पलटाया नहीं जा सकता, तो इसे निर्णय करना चाहिए कि आत्मवस्तु में वर्तमान में जो इसकी पर्याय-अवस्था में अहित होता है, क्योंकि वह पलट सके ऐसी चीज़ है।

श्रीमद् के अन्तिम शब्द हैं कि—

उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार,
अन्तर्मुख अवलोकते...
अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहीं वार।

देखो! एक शब्द में कितना अन्दर पड़ा है! 'उपजे मोह विकल्प से...' आत्मा की वर्तमान अवस्था में मोह अर्थात् निरर्थक मिथ्याबुद्धि से 'उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार...' संसार अर्थात् विकारभाव, अज्ञान, राग-द्वेष, पुण्य-पाप, काम-क्रोध, दया, दान, शुभाशुभभाव, यह सब विकल्प और विकार, वह मिथ्या है। 'उपजे मोह विकल्प से...' मिथ्याभाव से वह उत्पन्न होता है। क्योंकि उस आत्मतत्त्व में उस वस्तुस्वरूप में यदि अन्तर में होवे तो वह अधर्म और अश्रेय मिटाने का जो प्रयत्न करना चाहता है, वह अधर्म यदि अन्तरस्वभाव में होवे तो वह अधर्म मिटेगा नहीं। और अन्तरस्वभाव में यदि शान्ति और सुख न हो तो अधर्म मिटकर अधर्म के स्थान में शान्ति और सुख आयेगा कहाँ से? कहो, समझ में आया?

इसलिए आत्मा में—वस्तु में वस्तु कायम रहकर उसकी अवस्था अर्थात् पर्याय अर्थात् पलटती दशा में वे राग-द्वेष, पुण्य-पाप, काम-क्रोध, शुभ-अशुभवृत्ति वह 'उपजे मोह विकल्प से...' मोह से—इस भ्रान्ति से, आत्मा के अपराध से विकल्प राग-द्वेष, शरीर में सुख है, विषयों में सुख है, पर के कारण मुझे ठीक है, ऐसा मिथ्याभ्रान्ति का भाव इसकी पर्याय अर्थात् अवस्था में उत्पन्न होता है। और वह पलटता सकता है, ऐसा इसे पहले स्वीकार करना चाहिए तथा पलटते ऐसे स्थान में शान्ति और जो सुख लेना चाहता है, वह अवस्था पलटकर शान्ति और सुख प्रगट हो सकता है और वह शान्ति और सुख, वह अवस्था जो पलट गयी... 'उपजे मोह विकल्प से...' राग-द्वेष, पुण्य-पाप, काम-क्रोध, दया-दान के विकल्प शुभाशुभ, यह विकृत उपाधि है। वह उपाधि कहीं वास्तविक चैतन्य का स्वरूप नहीं है। उपाधि कहने से विकृत है, विरुद्ध है, विपरीत है और वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं परन्तु उसका वह विकार वह कदरूप है। ऐसे विकार को जो मिटाना चाहता है, उसे पहले यह निर्णय करना पड़ेगा

कि वह विकार मेरी पर्याय में क्षणिक है, वह विकार पलट सकता है और विकाररहित होकर मैं निर्विकार शान्ति प्राप्त कर सकता हूँ और निर्विकार शान्ति प्राप्त करने का साधन वह तो आत्मा के अन्तर में यह ज्ञान (और शान्ति) भरी है। 'उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार...' संसार शब्द से (आशय यह है कि) अज्ञानभाव, मिथ्यात्वभाव, राग-द्वेषभाव, विकारभाव, यह सब संसार। यह मिथ्याभ्रान्ति से उत्पन्न हुई अवस्था है।

यह 'अन्तर्मुख अवलोकते...' देखो! अब यह दशा पलटी। जो कुछ वर्तमान विकार और अधर्म, अहित को मिटाना चाहता है, उसे निर्णय करना पड़ेगा कि अहित को टालकर श्रेय करना है। श्रेय का साधन तो आत्मवस्तु है। अन्दर द्रव्य चैतन्यरूप ज्ञान और आनन्द का सत्त्व और तत्त्व है। 'अन्तर्मुख अवलोकते...' बहिर्मुख अवलोकन करने से शरीर, वाणी, मन, पुण्य, पाप, यह बहिर्मुख अवलोकन करने से अर्थात् कि बाहर में दृष्टि देने से, इसकी पर्याय अर्थात् पलटती दशा में अधर्म और विकार उत्पन्न होता था, उसका नाश करने का उपाय 'अन्तर्मुख अवलोकते...'

अन्तर्मुख अर्थात् क्या? जो ज्ञान की अवस्था वर्तमान में राग-द्वेष, पुण्य-पाप में अटकी है, श्रद्धा की अवस्था पुण्य-पाप को मानती है, चारित्र की अवस्था राग-द्वेषरूप विरूप परिणमती है, आनन्द की अवस्था वर्तमान दुःखरूप होती है, वीर्य की अवस्था वहाँ वीर्य की रचना, विकार की रचना करके रुक जाती है। पूरा आत्मा का अस्तित्व जो है, उतना उस विकार के अस्तित्व में स्वीकृत हो जाता है। कहो, समझ में आया?

पूरा आत्मा का जो अस्तित्व, यह ज्ञान, दर्शन, आनन्द, चारित्र, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व, स्वच्छत्व इत्यादि अनन्त शक्तियाँ, यह वर्तमान में जो विकार में अटककर रुक जाती है तो ये शक्तियाँ अन्दर आत्मा में पड़ी है कि जिनका अभी विरूप और विपरीत अवस्था अज्ञानभाव से आत्मा करता है। उस अज्ञानभाव को कोई दूसरा कराता नहीं अथवा दूसरी चीज़ के कारण होता है, ऐसा है नहीं।

देखो! यह शब्द ऐसा पड़ा है कि 'उपजे मोह विकल्प से...' भाई! 'उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार...' आत्मा की पर्याय की अन्दर दशा में मिथ्याभ्रान्ति से—शरीर मेरा, विषय मेरे, पुण्य-पाप मेरे, परवस्तु मेरी—ऐसी क्षणिक अवस्था में त्रिकाली

चीज़ की श्रद्धा-ज्ञान किये बिना वर्तमान अवस्थामात्र आत्मा को मानकर, यह मोह और भ्रान्ति 'उपजे मोह विकल्प से...' कर्म से, संयोग से अथवा दूसरी चीज़ इसे विकार कराती है, ऐसा है नहीं।

यह 'उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार...'—यह कहकर आत्मा की दशा में संसार / विकार विद्यमानरूप से, अवस्थारूप से वर्तता है। कोई, संसार तुच्छ अभावरूप से कहता हो कि बिल्कुल आत्मा की अवस्था में विकार सम्भवता ही नहीं। तो संसार ही नहीं होगा, आत्मा की दशा में ही न हो तो उसे अभाव करने का प्रसंग भी नहीं रहता। कहो, समझ में आया? इसलिए कहा कि 'उपजे मोह विकल्प से...' उपजता है। है नहीं स्वरूप में। वस्तु के स्वरूप में नहीं है परन्तु पर्याय में—अवस्था में यह अनादि अज्ञानी भूलकर अपनी अवस्था पलटती हुई क्या काम करती है और पलटनेवाला पूरा स्वभाव क्या है, इसकी इसे खबर नहीं है तो इतना इसे पहले स्वीकार करना पड़ेगा कि मेरी अवस्था पलट सकती है। उस अवस्था में अधर्म और अश्रेय मेरी भूल से उत्पन्न होता है और वह भूल मेरी वर्तमान दशा जितनी है। वह भूल शाश्वत् नहीं है। यदि वह शाश्वत् की भूल हो तो कभी मिट नहीं सकती।

उस भूल को मिटाने का उपाय 'अन्तर्मुख अवलोकते...' जैसे बहिर्मुख देखता है, पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और पूजा, काम और क्रोध ऐसी विकल की लगनियों का, वृत्तियों का उत्थान होता है। वह उत्थान पर के लक्ष्य से उत्पन्न हुआ विकारी भाव है। मेरा स्वरूप इतना और वह नहीं है। 'अन्तर्मुख अवलोकते...' वस्तुस्वभाव यदि जानने-देखनेवाला ध्रुव न हो और यदि स्वभाव में शान्ति न हो तो अप्राप्त की प्राप्ति कभी नहीं होगी।

स्वभाव में शान्ति, आनन्द और अन्तर आनन्द और अमृत और स्थिरता (परिपूर्ण भरे हुए हैं)। जिस प्रकार पानी का स्वभाव शीतल है तो उष्णता मिटकर शीतलता होती है। वह उष्णता पानी का वर्तमान कृत्रिम रूप है। इसलिए अज्ञानी भी पानी को शीतल करना चाहते हुए दो (बातें) स्वीकार करता है कि उष्णता मिटेगी, क्योंकि क्षणिक है। शीतलता अन्दर में शाश्वत है। यह उष्णता मिटकर शीतलता होगी और उष्णता में

निमित्त एक अग्नि है। शीतलता को समझनेवाला भी एक दूसरी चीज़ है और शीतलता अन्दर में प्रगट होने की ताकत भी है। इतनी स्वीकृति करे, तब उस उष्णता को टालकर शीतलता पानी में करना चाहता है। चन्दुभाई!

इसी प्रकार आत्मा में... भगवान आत्मा 'उपजे मोह विकल्प से...' इसे इसकी अवस्था में निर्णय करना पड़ेगा कि मैं जो अश्रेय, अकल्याण मिटाना चाहता हूँ, वह क्षणिक है। अश्रेय पुण्य, पाप, काम, क्रोध ये क्षणिक है। इन्हें मिटाने के लिये क्षणिक वस्तु का आदर नहीं चाहिए। इन्हें मिटाने के लिये ध्रुव, जिसमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द की शक्ति पड़ी है, ऐसा स्वभाव है। प्राप्त की प्राप्ति है। अन्दर में हो, वह प्राप्त होता है। यदि स्वभाव में शान्ति और आनन्द न हो तो उसकी पर्याय अर्थात् अवस्था में अश्रेय और अकल्याण पलटकर अश्रेय में से श्रेय आयेगा? मगनभाई! जो पुण्य-पाप, काम-क्रोध, शुभाशुभ वृत्तियाँ, वह अधर्म है, अहित है, उन्हें पलटाना चाहता है, तो वह अहित अपनी पर्याय में है। वह अहित और अधर्म कहीं दूसरे स्थान में नहीं है और वह अहित अपनी पर्याय अर्थात् अवस्था में है और अहित मिटाने का उपाय तथा हित होने का उपाय, वह वस्तु का स्वभाव है।

वस्तु का स्वभाव जो ज्ञाता-दृष्टा, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व, शक्ति से जो तत्त्व पड़ा है, उसे 'अन्तर्मुख अवलोकते...' उसका अन्तर्मुख अवलोकन करे। परन्तु पहले उसकी प्रतीति होना चाहिए। प्रतीति होना चाहिए और प्रतीति होने से पहले उस वस्तु को मैं जो समझना चाहता हूँ, उसे समझे हुए, इससे पहले, मुझसे पहले पुरुष हो गये हैं। मैं कहीं नया नहीं हूँ। जो कुछ अहित और अश्रेय मिटाना चाहता हूँ तो अहित और अश्रेय पूर्ण मिटकर हित और श्रेय पूर्ण होकर कोई सर्वज्ञ और परमानन्द को प्राप्त हुए इस जगत में मुझसे पहले जीव हैं। मगनभाई! बराबर है? तो मैं जो हित और श्रेय आत्मा के अन्तर में से प्रगट करना चाहता हूँ तो उसे प्राप्त करनेवाले... अभी मैं साधक हूँ तो मुझे-साधक को पूर्ण होना है और विकार पलटाकर, अविकारी दशा प्रगट करनी है। विकार का नाश करके (प्रगट करनी है)। अतः ध्रुव का आश्रय लेकर मैं प्रगट करूँ, परन्तु अभी मेरा अन्तर का आश्रय पूर्ण नहीं है तो उससे पहले, मुझसे पहले कोई

पूर्ण वस्तु का आश्रय करके पर्याय में अभेदरूप से पूर्णानन्द सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य प्रगट हुआ है—ऐसे जीव मुझसे पहले भी हो गये हैं। और अनन्त काल में एक नहीं परन्तु एक-एक ऐसे सब होने पर मैं जब पूर्ण होना चाहता हूँ तो मुझसे पहले भी एक नहीं परन्तु ऐसे अनन्त काल में अनन्त-अनन्त सर्वज्ञ और पूर्ण पद को प्राप्त हुए (जीव) हो गये हैं। कहो, समझ में आया? और जब मुझसे पहले अनन्त सर्वज्ञ हुए हैं तो उसमें से कोई वाणी के योगवाले भी होना चाहिए कि उन्होंने सर्वज्ञरूप से क्या जाना? सर्वज्ञरूप से क्या जाना?

जो पद श्री सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
कह सके नहीं वह भी जिन भगवान जो।

पूर्ण कह नहीं सके। आया तो सही। न आता हो, तब तो पूर्ण कह नहीं सके। 'जो पद श्री सर्वज्ञ ने देखा...' देखो! पहले सर्वज्ञ का पुकार किया है।

जो पद श्री सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
कह सके नहीं वह भी जिन भगवान जो।
उस स्वरूप को अन्य वाणी तो क्या कहे?
अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जो
अपूर्व अवसर ऐसा... ऐसा अर्थात् सर्वज्ञ होने का।
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब

यदि मुझसे पहले मैं जो काम करना चाहता हूँ—अहित मिटाकर हित; हित के करनेवाले पूर्णानन्द को प्राप्त मुझसे पहले अनन्त हो गये हैं। उन सर्वज्ञों ने पूर्ण जाना है, तो वे सर्वज्ञ कहीं हैं और उन सर्वज्ञों की वर्तमान में भक्ति भी शरीर के ऐसे योगवाले, वाणी के योगवाले भी कहीं मनुष्यक्षेत्र में होना चाहिए। यदि उनकी अस्ति न हो तो उन्होंने सर्वज्ञरूप से जानकर वाणी में कुछ आनेयोग्य और जो आया, वह क्या कहा, यह जानने के लिये भी निमित्त नहीं रहता; और मुझसे पहले इस शरीररहित... कहीं सदा ही स्वरूप को प्राप्त शरीरसहित ही रहे, ऐसा कुछ है नहीं। इसलिए पूर्णानन्द अकेला

चिदानन्दस्वरूप, विकार / पुण्य-पाप की वृत्तियाँ, मोह के मिथ्यात्वभाव से जो उत्पन्न होती थी, वे 'अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहीं वार।'

अनन्त काल से अज्ञानभाव से भले मिथ्या राग-द्वेष किये, परन्तु टालने के लिये, नाश होने के लिये देरी नहीं लगती। मोहनभाई! देरी नहीं लगती। क्योंकि मेरे अज्ञानभाव से मिथ्या, राग-द्वेष, पुण्य-पाप का भाव मैंने अधर्म का खड़ा किया है और मैंने स्वयं अशान्ति उत्पन्न की है। उत्पन्न की है। मेरे मूलस्वरूप में है नहीं। उसे उत्पन्न करूँ तो हो और मिटाऊँ तो मिटे, ऐसी जिसे पहले आत्मा में प्रतीति हो कि आत्मा में राग-द्वेष और अज्ञान, यह क्षणिक विकारी दशा है, यह पलट सकती है। यह विकार अधर्म मेरी पर्याय / दशा में होता है। यह किसी के कारण किसी में कहीं नहीं होता। दूसरा जीव मिले या दूसरा परिग्रह, लक्ष्मी वहाँ हो, उसके कारण यहाँ अधर्म है, ऐसा अधर्म है नहीं। वह अधर्म तो ममता, अज्ञान, पर में एकत्वबुद्धि के कारण उत्पन्न किया हुआ विकारी अधर्मभाव है।

अब उसे टालने के लिये मैं जो प्रयत्न करता हूँ तो स्वभाव में उसे टालने की शक्ति है। उसे टालनेवाले इससे पहले अनन्त सर्वज्ञ शरीररहित भी कितने ही हो गये हैं। समझ में आया? उन्हें शरीर रहा नहीं और अकेला आत्मा रहा, उसे सिद्धपद कहते हैं। शरीररहित उसे सिद्धपद कहते हैं और शरीरसहित के वचनयोगवाले को अरिहन्तपद कहते हैं। ऐसा पहले इसे निर्णय करना पड़ेगा। मुझसे पहले अरिहन्त और सर्वज्ञ तथा सिद्ध कौन हुए? कहाँ हैं? कितने काल के कैसे हैं? और जब मैं भी यह प्राप्ति करना चाहता हूँ तो उसे समझे हुए सन्त, वस्तु के अनुभव करनेवाले धर्मात्मा, जिन्होंने मिथ्याबुद्धि मिटायी, भ्रान्ति मिटायी और निर्भ्रान्त चैतन्यस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान किये हैं, ऐसे साधक जीव भी जगत में हैं, मैं होता हूँ तो दूसरे भी वर्तमान में भी अन्यत्र होना चाहिए और उस निर्भ्रान्त तत्त्व को समझकर, सर्वज्ञ होकर उनके कहे हुए शास्त्र यथार्थ आत्मा को समझाकर और आत्मा समझे, तब उसे वह वाणी निमित्त होती है, ऐसी वाणी भी जगत में होना चाहिए। अर्थात् देव-गुरु और शास्त्र, वे सर्वज्ञ और आत्मा का हित करने के लिये जो चाहता है, उसे पहले निर्णय (करना पड़ेगा), पहले धरा के पहले नम्बर में निर्णय होना चाहिए।

अहो...! अधर्म और असमाधि वर्तमान में मेरी दशा में वर्तती है मैं उसे पलटाकर धर्म और शान्ति करना चाहता हूँ, तो उस अधर्म के स्थान में धर्म जब प्रगट होता है तो वह धर्म जिसे पूर्ण प्रगट हुआ है, उसने धर्म क्या कहा है? और जिसने धर्म साधा है—ऐसे सन्त, मुनि, धर्म किस प्रकार कहते हैं?—ऐसी इसे प्रतीति और श्रद्धा पहले आना चाहिए। तथा उस ओर का झुकाव होने के पश्चात् यदि स्वभावसन्मुख झुकाव न करे तब तो अन्तर्मुख अवलोकन बिना मात्र बाह्य देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के झुकाव में भी मोह का नाश—विलय—अन्त आ नहीं सकता। वजुभाई!

'अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहीं वार।' अन्तर्मुख अवलोकते, अर्थात् आत्मवस्तु में अन्दर... जिस प्रकार चौंसठ पहरी चरपराहट पीपर में भरी है। उग्रता—चरपराहट भरी है, तो वह चरपराहट—उग्रता उसकी वर्तमान अवस्था में आती है; उसी प्रकार आत्मद्रव्य में अन्दर शक्ति में आनन्द और शान्ति का सागर स्वयं है। क्योंकि जिस अधर्म को मिटाकर धर्म जो पर्याय में—स्थान में प्रगट करना चाहता हूँ, वह प्रगटता कहीं बाह्य से आवे, ऐसी चीज़ नहीं है। वह अन्तर में स्वभाव भरपूर है, ऐसी वस्तु की, द्रव्य की प्रतीति करनी पड़ेगी। उस द्रव्य में ज्ञान-दर्शन-आनन्द, यह अटकी हुई अवस्था पलटकर निर्मल होती है तो शक्तियाँ भी द्रव्य में है, ऐसे गुणों की प्रतीति करनी पड़ेगी। उसकी पर्याय पलटती है और पलटने पर अधर्म मिटकर धर्म होता है। ऐसा पलटता स्वभाव स्वीकार करना पड़ेगा और उसके समझानेवाले...

जो स्वरूप समझे बिना पाया दुःख अनन्त।
समझाया उन पदो नमूँ श्री सद्गुरु भगवन्त॥

देखो! यह आत्मसिद्धि में पहला मंगलाचरण किया है। 'जो स्वरूप समझे बिना...' अरे! मैं आत्मा अनन्त काल से मेरे आनन्द और शान्ति के अन्तर के स्वभाव को समझे बिना 'पाया दुःख अनन्त।' मैं अनन्त दुःख को प्राप्त हुआ। मैं समझे बिना, हों! किसी ने मुझे भूल करायी नहीं है।

'जो स्वरूप समझे बिना पाया दुःख अनन्त।' मैं आत्मा के शान्ति और आनन्द के अनुभव बिना स्वरूप के निज रस के आनन्द की कातली के आश्रय बिना। चिदानन्द

आनन्द की कातली बिना, चिदानन्द ध्रुव भगवान है उसके आश्रय बिना 'स्वरूप समझे बिना...' उस स्वरूप को समझे बिना। मैं समझे बिना। किसी ने मुझे भूल करायी है, ऐसा नहीं है। 'पायो दुःख अनन्त।' मैं मेरी पर्याय में—अवस्था में—दशा में दुःख अर्थात् अधर्म और अहित को प्राप्त हुआ।

'समझाया उन पद नमूँ।' ऐसे आत्मधर्म को समझानेवाले समझने में मेरी योग्यता के समय जो सद्गुरु ज्ञानी मुझे निमित्त मिले, देखो! निमित्त और स्व-पर का ज्ञान इसने प्रगट किया। जब मैं समझा, तब समझानेवाले निमित्त उपस्थित थे। मैं समझा अर्थात् पहले समझानेवाले का जगत में अभाव था, ऐसा नहीं था। इसलिए 'समझाया उन...' जिन्होंने मुझे यह पद समझाया, उन्हें और इस पद को, इन दोनों को। 'समझाया वह पद नमूँ श्री सद्गुरु भगवन्त' ऐसे ज्ञानी के चरणकमल में मैं नमस्कार करता हूँ।

देखो! इसमें कितनी ध्वनि है! मैं अनादि से मेरे स्वरूप को समझे बिना मेरी दशा में जो दुःख था, मैंने दुःख उत्पन्न किया। दुःख, वह विकार है और वह दुःख विकार त्रिकाल चैतन्य की अविकारी अन्तर शान्ति है, उसका वह विरूप—उल्टारूप है। ऐसा इसे निर्णय करना पड़ेगा। वह दुःख कहीं बाहर से आयी हुई चीज़ नहीं है। दुःख कोई संयोग से हुई चीज़ नहीं है अथवा शरीर में क्षुधा लगे, तृषा लगे, वह दुःख है—ऐसा नहीं है। दुःख, वह आत्मा की शान्ति और आनन्द की एकत्वश्रद्धा न करके, पर की दशा आदि में जो अवस्था होती है, उसमें एकत्व मान्यता करने से अन्दर दुःख की उत्पत्ति होती है। वह दुःख की उत्पत्ति कहीं संयोग प्रतिकूल हो, क्षुधा-तृषा (लगने पर) आहार (पानी न मिले), निर्धनता हो, वह कहीं दुःख का कारण नहीं है। निर्धन वह कहीं दुःख नहीं, सधन, वह सुख नहीं; रोग, वह दुःख नहीं और निरोग, वह सुख नहीं। शरीर का कालापन वह कहीं (अव)गुण नहीं और रूपवानपना, वह गुण नहीं। कालापन कहीं अवगुण नहीं और सफेदपन वह कहीं गुण नहीं। यह सब चीज़ें क्षुधा लगी, वह कहीं अवगुण नहीं और खाकर ठीक से बैठा, वह कहीं गुण नहीं।

चैतन्य, वह स्वभाव समझे बिना, यह जड़ की अवस्थाएँ मुझे होती हैं, यह मेरा स्वरूप है और मैं इनसे पृथक् हूँ, ऐसा भूला, यह उसे दुःख की वृत्ति और मिथ्याभ्रान्ति

होती है। यह 'उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार...' यह सब संसरण—स्वभाव में से हटना, यह मिथ्याभ्रान्ति और अज्ञान और विकार से होता है। उसे 'अन्तर्मुख अवलोकते...' उस स्वरूप का भान होने पर... परन्तु कितनी प्रतीति करनी चाहिए इसे? कि एक तो मेरी अवस्था पलटती है, अधर्मदशा टल सकती है, उसके स्थान में शान्ति आती है, शान्ति के स्थान में आत्मा ज्ञान-दर्शन-आनन्द की काचली ध्रुवस्वरूप है, उसके कारण से प्रगट होती है। उसे समझानेवाले देव-गुरु-शास्त्र जगत में वर्तते हैं और जो मैं विकार करता हूँ, पुण्य और पाप, काम और क्रोध, उस विकार का निमित्त भी एक जगत में दूसरी चीज़ है। वह विकार कहीं मेरे स्वभाव के आश्रय से नहीं होता। वह मैं स्वयं जब विकार करता हूँ, तब दूसरी निमित्त चीज़ सामने है। वह निमित्त एक कर्म है। (आत्मा के) लक्षण से विलक्षण दूसरी चीज़ है और वह चीज़ भी यदि कायम नित्य रहती हो तो मेरे विकार का पलटा नहीं हो सकता। चन्दुभाई! कहो, समझ में आया?

विकार जो काम, क्रोध, पुण्य, पाप के विकार जो आश्रय / अधर्म है, वे मिट सकते हैं, ऐसा यदि मैं मानता हूँ और मिटने के स्थान में शान्ति प्रगट हो सकती है और शान्ति प्राप्त स्वरूप के आश्रय से होती है और शान्ति के समझानेवाले पूर्ण प्राप्त कर गये हैं, तो उनके और मुझे दोनों के कर्म जो अन्दर निमित्तरूप हैं, वे यदि पलटनेयोग्य के न हों तो विकार भी पलटने की ताकत की योग्यता इस ओर हुई और उनकी पलटने की ताकत न हो, ऐसा नहीं होता। कहो, समझ में आया?

इसलिए विकार में सामने निमित्त कौन है? वह भी पलटनेयोग्य चीज़ है। और उस विकार में यदि एक ही परमाणु निमित्त हो तो आत्मा के विकार में पुण्य-पाप, काम-क्रोध के असंख्य विकारी परिणाम होते हैं, तारतम्य—हीनाधिक (होते हैं) तो हीनाधिक में एक ही रजकण निमित्त हो तो इतनी हीनाधिकता नहीं हो सकती। इसलिए विकार के हीनाधिक के निमित्त में भी अनन्त-अनन्त तारतम्य पर्याय—अवस्थावाले परमाणु, पदार्थ, जड़ मेरे लक्षण से विलक्षण पदार्थ हैं। कहो, समझ में आया? ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा।

इसमें दो न्याय दिये। एक तो आत्मा अधर्म और असमाधि टालना चाहता है।

उसे असमाधि वह क्षणिक है और मेरा मूल स्वभाव शुद्ध है, उसके आश्रय से मेरी शान्ति और धर्म प्रगट होता है; और प्रगट होने में निमित्त सर्वज्ञ, गुरु, शास्त्र अन्दर होते हैं और जब धर्म में निमित्त वे हैं तो मेरे अधर्म में भी एक कर्म अन्दर निमित्त है। है, उससे यहाँ अधर्म होता है, ऐसा नहीं तथा देव-गुरु-शास्त्र है, इसलिए यहाँ धर्म होता है, ऐसा नहीं परन्तु एक दूसरी चीज़ जगत में है, मगनभाई! दोनों में, हों!

मेरी दशा... जिसे हित करना, उसे वर्तमान अहित जो राग-द्वेष, उसका निमित्त पर कर्म है और एकरूप परमाणु नहीं परन्तु अनेक प्रकार के हैं। वे अनेक विकल्प भी मैं करता हूँ, तो उसकी निमित्त की योग्यता में भी सामने भी अनेकता है। मुझमें मेरे कारण से और उसमें उसके कारण से। ऐसा स्वीकार करके अहित मिटाना चाहे, उसे क्षणिक दशा है; इसलिए पलट सकेगी।

'विलय होत नहीं वार..' इसे विश्वास आना चाहिए। यह अनन्त काल से अज्ञान और अधर्म किया। अनन्त-अनन्त काल से। तो यह मिटेगा या नहीं? कि 'विलय होत नहीं वार..' इसलिए यह शब्द रखा है।

उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार,
अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहीं वार।
कोटि वर्ष का स्वप्न भी जागृत होत समाय,
त्यों विभाव अनादि का ज्ञान होत दुरथाय।
कोटि वर्ष का स्वप्न भी जागृत होत समाय,
त्यों विभाव अनादि का ज्ञान होत दुरथाय।

करोड़ वर्ष का स्वप्न हो परन्तु जगा तो? जगा तो? स्वप्न गया। था अवश्य, हों! स्वप्न के काल में स्वप्न था। स्वप्न के काल में स्वप्न का अभाव नहीं था। वह था, उसका अभाव हुआ। स्वप्न का अभाव जागृत काल में हुआ, परन्तु जागृत काल में करोड़ वर्ष का स्वप्न क्षण में जाता है।

इसी प्रकार अनादि का अज्ञान, काम, क्रोध, विकार, धर्म, दया, दान, विकल्प की शुभाशुभवृत्तियाँ उठती हैं, वह उपाधि विकृत, वह चैतन्य के मूल स्वभाव में नहीं

है। यदि मूल स्वभाव में हो तो सिद्ध में होना चाहिए। मूल परमात्मा में भी वे राग की वृत्तियाँ होना चाहिए। उन नयी वृत्तियों का उत्थान करता है, वह विकार है। वह उपजता है नया स्वयं करे तो। और न करे तो नहीं। इसलिए यह करोड़ वर्ष का स्वप्न क्षण में समाप्त होता है, ऐसे 'विलय होत नहीं वार।' 'अन्तर्मुख अवलोकते...' ऐसा इसे पहले भरोसा आना चाहिए। भरोसा आना चाहिए कि अरे रे! परन्तु अनन्त काल का अज्ञान, अनन्त काल से राग-द्वेष किये, वह अधर्म कैसे मिटे? स्वप्न करोड़ वर्ष का क्षण में मिटता है।

'अन्तर्मुख अवलोकते...' चैतन्य जो मिथ्याभ्रान्ति के कारण राग-द्वेष और पुण्य-पाप में धर्म माने और अपनी अधर्म दशा अपने में अपने से होती है, वह पर से होती है ऐसा माने। अब वह अधर्म टले कब? ...उल्टी भूल के कारण (होता है ऐसा) माने तब तो सुलटे के कारण भूल मिटे, परन्तु पर के कारण माने उसे सुलटा होने का प्रसंग नहीं रहता और धर्म में भी निमित्त सच्चे देव-गुरु-शास्त्र हैं परन्तु वे करावें तो मेरा कल्याण हो तो भी उसे अन्तर्मुख अवलोकन का प्रसंग नहीं रहता। मोहनभाई! सत्य होगा यह?

जैसे आत्मवस्तु में अहित पलटाना चाहता है कि अब मुझे अहित नहीं चाहिए। अहित कुछ मानता तो है। खबर नहीं कहाँ अहित है? शरीर में होगा? वाणी में होगा? बाह्य में होगा? स्त्री-पुत्र में अहित होगा? अहित इसकी पर्याय अर्थात् वर्तमान दशा में है। काम, क्रोध, शुभाशुभ पुण्य-पाप की वृत्तियाँ वे (अहित हैं)। उसे अहित को पलटाना चाहता है तो उसे भरोसा करना पड़ेगा कि क्षण में पलटा सकूँ, ऐसी मेरी ताकत है। अनन्त काल से हुई, इसलिए अब ऐसी की ऐसी रहेगी, ऐसा उनका स्वभाव नहीं है। मैं ऐसा का ऐसा रहूँगा। पानी का कृत्रिम उष्ण स्वभाव को टलकर शीतल रहता है बहुत काल। परन्तु उष्णता कहीं कायम नहीं रहती। स्वप्न कायम नहीं रहता। इसी प्रकार विभाव भी आत्मा में कामय नहीं रहता। क्योंकि विकार टालना तो चाहता है। इसका अर्थ यह है कि वह क्षणिक है; इसलिए पलटाना तो चाहता है और पलटता है। यहाँ सुनते हुए किंचित् राग शुभ हो और बाहर जाकर अशुभ हो, तब शुभ और अशुभ एकरूप होवे तब तो यह शुभ और अशुभ कायम एकरूप रहना चाहिए। घड़ीक में शुभ

होता है और घड़ीक में अशुभ होता है, और अशुभ मिटकर शुभ होता है तो शुभ-अशुभ पुण्य-पाप के भाव वे आत्मा की अवस्था में कृत्रिम, क्षणिक और अनित्य है। तब अनित्य और क्षणिक वह मुझसे हुआ उपाधिभाव है। 'उपजे मोह विकल्प से...' उपजे कहा। पश्चात्?

'अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत...' उत्पाद, व्यय और ध्रुव तीनों रख दिये। मगनभाई! तीन रखे उसमें।

उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार,
अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहीं वार।

देखो! यह समाधि मृत्यु के अन्तिम दिन थे। वैशाख कृष्ण पंचमी को समाधिमरण हुआ है और यह शब्द चैत्र नवमीं, राजकोट के हैं। मगनभाई! यह राजकोट में चैत्र शुक्ल नवमी को थे तो यह शब्द बोले गये थे। वैशाख कृष्ण पंचमी (गुजराती, चैत्र कृष्ण पंचमी) समाधिमरण से—आत्मा की शान्ति (पूर्वक देह छोड़ी है)। ऐसे पुण्य-पाप, विकल्प के ऊपर दृष्टि तो पहले से मिट गयी थी। स्वभाव शान्ति आनन्दकन्द हूँ, ऐसा भान था। शरीर की क्रिया नहीं, पुण्य-पाप की वृत्तियाँ क्षणिक विकार जितना मैं नहीं। शुद्ध चिदानन्द हूँ। इस प्रकार पहले 'दर्शन मोह व्यतीत हो, उपजा बोध जो।' यह तो पहले बोध हो गया था।

'दर्शन मोह व्यतीत हो, उपजा बोध जो।' उपजेगा, ऐसा नहीं। उपजा था। इसलिए उपजा कहा है। समझ में आया? 'देह भिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान जो...' देह भिन्न चैतन्य का केवलज्ञान चैतन्यमूर्ति हूँ। यह विकारमात्र नहीं और शरीरमात्र नहीं। ऐसे स्वभाव का भान तो प्रथम था। पश्चात् 'इससे प्रक्षीण चारित्र मोह विलोकिये'। 'इससे प्रक्षीण चारित्र...' स्वरूप का आश्रय करते-करते राग-द्वेष के जो परिणाम हैं, उन्हें क्षीण होते देखते हैं। मगनभाई! समझ में आया?

इससे प्रक्षीण चारित्र मोह विलोकिये,
वर्ते ऐसा शुद्धस्वरूप का ध्यान जो।

चैतन्य की ओर उन्मुख होने से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, ऐसे विकार टल सकता

है, अविकारी चैतन्य का आश्रय लिया जा सकता है। क्रम-क्रम से वस्तुस्वभाव के आश्रय से विकार का क्षीणपना भासित होता है और भासते-भासते काल आवे अर्थात् उसका समय आवे मृत्यु, आत्मा आनन्द लहर में झूमता हुआ... दुःख कहाँ है? विकल्प क्या है? शरीर क्या है? उसे भूलकर ज्ञाता अपने स्वभाव में लीन होता है। उसे समाधिमृत्यु अथवा समाधिमरण कहते हैं। ....भाई! इसका नाम समाधिमृत्यु है, भाई! यह अनन्त काल में एक सेकेण्डमात्र भी समाधिमृत्यु आयी नहीं। यह समाधि अर्थात् ऐसे का ऐसा जड़ जाना, ऐसा नहीं। चन्दुभाई!

यह आज समाधिमृत्यु का दिन है। श्रीमद् राजचन्द्रजी का समाधिमृत्यु, समाधिमरण (दिवस है)। 'बाल मरणाणि... अकाम मरणाणि केवल... वराया जे वीतरागना जीणवयणं जिणयानन्ति।' सर्वज्ञ ने कहा हुआ आत्मतत्त्व और पुण्य-पाप आदि अधर्म और संयोग पर तथा स्वभाव पूर्ण—ऐसा जिसने जाना नहीं, ऐसे जीव बालमरणाणि बहु... बालमरणे, अज्ञानमरण से अनन्त बार मरे हैं। 'अकाम मरणाणि...' अकाम इच्छा बिना के बाल मरण से अनन्त बार मरे हैं। 'बहुणी मरियन्ती वराया'। अरे रे! जगत में ऐसे रंक। वराया शब्द शास्त्र में है। ऐसे आत्मा को समझनेवाले नहीं और पुण्य-पाप और देहरहित चिदानन्द कौन है, उसे नहीं समझे बिना के 'बहुणि मरियन्ती वराया'। वराया अर्थात् रंक। बहुत पिल्ले और केंचुआ की भाँति काल जाता है। उसकी कुछ कीमत नहीं है।

'...' सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा ने अन्दर विकल्प, पुण्य-पापरहित, देहरहित, पर से भिन्न चैतन्यतत्त्व, नवतत्त्व में भिन्न तत्त्व (देखा है)। दया, दान, व्रत, पूजा, यह पुण्यतत्त्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, यह पापतत्त्व है। शरीर, वाणी, मन यह अजीवतत्त्व है और यह जीवतत्त्व ज्ञानानन्द तत्त्व है। ऐसा जो सर्वज्ञ भगवान ने कहा है, उस जीवतत्त्व के आश्रय में पड़कर जिसने पुण्य-पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व का नाश करने की श्रद्धा का उपाय खोजा नहीं और स्वरूप के आश्रय से रमणता करके, स्थिरता करके वीतरागता प्रगट करने की राह में—पन्थ में आये नहीं, ऐसे जीव बहुत पिल्ले और केंचुआ जैसे जगत में मरते हैं। ...भाई! इसकी कुछ कीमत नहीं।

परन्तु जिसने पहले ऐसा आत्मा का भान किया..., ऐसा नहीं कहा, (कि) इसके

पास पाँच करोड़ थे और मर गया इसलिए भारी भाई! हरिवाड़ी छोड़कर मर गया। चन्दुभाई! लड़के पाँच, बहुएँ पाँच, छैया-छोकरा सब ऐसा कि हरिवाड़ी छोड़ गया, यह अच्छा किया। ऐसा कुछ है नहीं। जिसने आत्मा को हरा-भरा अन्दर में बनाया, अनादि की सूखी झाड़ी, उसकी पर्याय में सूखी झाड़ी थी। पर्याय अर्थात् अवस्था, अवस्था अर्थात् दशा। उसमें पुण्य-पाप, काम-क्रोध, शरीर की अवस्थामात्र मानता था। उसे मान्यता भ्रान्ति... थी, उसे शुद्ध चिदानन्द के आश्रय से वह विकार की जो वाड़ी थी उसका नाश करके, जलाकर अविकार की वाड़ी की प्रजा उत्पन्न की। भोगीभाई! कहो, समझ में आया? आत्मा और आत्मा के अन्तर की (बातें), बापू! वे गुरुगम बिना और सत्समागम बिना अनन्त काल में वह ज्ञात नहीं हुआ।

'पावे नहीं गुरुगम बिना यही अनादि स्थिति।' यह अन्तर का मार्ग गुरुगम बिना अनन्त काल में इसे हाथ आया नहीं। और पात्र हो, उसे गुरु न मिले—ऐसा भी होता नहीं। यह अनन्त काल से क्या चीज़ है? सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव देवाधिदेव परमात्मा जो स्वरूप समझकर, पूर्ण प्राप्त कर वाणी द्वारा जो स्वरूप कहा, उस वाणी का स्वरूप एक क्षण भी जो समझे, उसके जन्म-मरण का नाश हुए बिना नहीं रहता। एक क्षण समझे, हों!

एक रोडा कण्डे में एक अग्नि की चिंगारी पड़े तो उस रोडा कण्डे को जलाकर भवका करके ही रहता है। इसी प्रकार 'एकज देन चिंगारी महानल...' आता है न? महानल एक ही। महानल अर्थात् कौन? यह ज्ञानानन्द, चिदानन्द अनन्त गुण की कातली भगवान, इसकी प्रतीति और भान होकर सम्यग्ज्ञान की एक चिंगारी उगी। 'एकज दे चिंगार महानल, एकज दे चिंगारी।' वह चिंगारी यह, हों! कोई देने में समर्थ नहीं है परन्तु इसने अपना स्वभाव क्या है, वह सुना नहीं, भरोसे में आया नहीं और कभी माना नहीं, आत्मा के स्वभाव को समझे बिना अनन्त बार अनन्त किया परन्तु कहीं इसके जन्म-मरण मिटे नहीं।

इसलिए आज यहाँ कहते हैं कि जिसे आत्मा का कल्याण करना है, उसे इतने बोल निर्णय करना पड़ेंगे। अवस्था में अधर्म है, अधर्म अन्यत्र नहीं है। अधर्म पलटकर

धर्म मेरी दशा में होता है, वह दूसरे स्थान में कहीं नहीं होता। यह धर्म होता है मेरी दशा में, यह धर्म हो मेरे आत्मा के आश्रय से और इस धर्म में समझानेवाले सच्चे सद्गुरु-देव-शास्त्र होते हैं। ऐसी मेरी पात्रता हो, वे समझाने में निमित्त भी होते हैं। और अधर्म होता है, वह मेरी उल्टी दशा में, मेरी दशा में; और उस अधर्म का निमित्त भी अन्दर वह कर्म की चीज़ है कि जिसका लक्ष्य करके मैं मेरे स्वभाव को चूककर अधर्म करता हूँ। जब इतना इसे प्रतीति में आवे, जब श्रद्धा में आवे, तब इसे स्वभाव का आदर होता है। तब इसे स्वभाव का नाद समझ में आता है। ओहो! ज्ञाता-दृष्टास्वरूप, देह से भिन्न मेरा स्वरूप है। 'देह भिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान।' इसका अर्थ क्या कहा? शरीर नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, पुण्य-पाप विकल्प, देव-गुरु-शास्त्र की ओर झुका हुआ राग, वह नहीं। भोगीभाई! ऐसा हुआ या नहीं?

'देह भिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान।' अकेला चैतन्य, अकेला चैतन्य। ज्ञाता-दृष्टा। उसकी वर्तमान अवस्था विकार की रुचि छूटकर स्वभाव की रुचि हुई, इतना ज्ञाता ही है। भले अब पुण्य-पाप आदि मेरी वर्तमान अवस्था की कमजोरी से हों, परन्तु वे स्वभाव के आश्रय से उन्हें प्रक्षीण करता जाता हूँ—नाश होता देखता हूँ। वे टिकें, ऐसी अब उनमें ताकत नहीं रही।

इस प्रकार आत्मा को वस्तु के स्वभाव से श्रद्धा करके, विकार को क्षणिक मानकर, पलटता मानकर आत्मा को अनन्त ज्ञान, दर्शनशक्तिवाला जानकर, जगत में समझानेवाले हैं, उनका बहुमान करके स्वभाव के बहुमान में उन्मुख हो, उसे समाधिमरण होता है और असमाधिमरण मिटता है। ...भाई! श्रीमद् ने बहुत जगह पुकार किया है। अहो! हमने पूर्व सत्समागम किया, वह याद आता है। देखो! मुक्तदशा थी, परन्तु हमने पूर्व में सन्तों, महाधर्मात्मा ज्ञानी के संग में रहे हुए और जो आत्मध्यान करते थे, उनका हमें इस काल में विरह पड़ा है, तो उनका यह विरह वर्तमान में याद करके स्मरण में लाते थे। यह चिदानन्द का स्वरूप, भगवान! वह कोई अचिन्त्य और अलौकिक है। साधारण जनता एकदम समझ जाए, ऐसी ताकत नहीं है। परन्तु वे जीव समझना चाहे और आग्रह छोड़े तथा सत् समझने की राह में चढ़े तो उनमें ताकत है। परन्तु वह ताकत कहीं बाहर से आ जाए और कोई दे-देवे, ऐसा नहीं है।

अनन्त काल गया। नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया। स्वर्ग का नौवां ग्रैवेयक होता है, वहाँ प्रत्येक जीव अनन्त बार गया है क्योंकि जब अज्ञानरूप से अनन्त भव किये तो अनन्त भव में किसी समय निकृष्टतम पाप के भव किये, किसी समय उत्कृष्टतम पुण्य के भव किये। परन्तु वह पुण्य और पाप दोनों चौरासी योनियों के अवतार के धाम हैं। उनमें इस चैतन्य का धाम नहीं है। चैतन्य का धाम तो अन्तर... अहो! आत्मा, वह विकार के क्षणिक परिणाम मैंने अज्ञानभाव से किये। वह अधर्म है। दृष्टि पलटने पर... यह अधिकार अपने चलता है कि विकार और पुण्य-पाप का कर्ता मैं अज्ञानभाव से अज्ञानी था। वह कर्ता-भोक्ता दूसरा कोई था नहीं। और मैंने भोक्ता... अब गाथा यह आयेगी।

राग और द्वेष, हर्ष और शोक के निश्चय से मैं भोक्ता था। मैंने परचीज़ को भोगा नहीं। शरीर, वाणी, कर्म और स्त्री, पुत्र, वे तो जड़ हैं, वे तो पर हैं। उन्हें कहीं आत्मा भोग नहीं सकता। क्योंकि पर का आत्मा में अभाव और आत्मा में पर का अभाव है। मुझमें पर का अभाव और उसका मुझमें अभाव है। मैंने मेरी भूल से राग-द्वेष को किया और मेरी भूल से मैंने हर्ष-शोक को भोगा। मैंने पर को किया नहीं, पर से मुझे विकार हुआ नहीं। मैंने पर को भोगा नहीं और पर से मुझे भोगने का भाव प्रगट हुआ नहीं। कहो, समझ में आया?

आत्मा में जब इतना निर्णय करे, तब तो अभी अज्ञानभाव कहलाता है। क्या अज्ञानभाव? कि राग-द्वेष मैंने कदाचित्... आया था न? अज्ञानभाव से विकार का कर्ता है और अज्ञानभाव से विकार का भोक्ता है। स्वभावभाव से कर्ता-भोक्ता नहीं। जब तक अज्ञानी था, भ्रान्ति थी, स्वरूप की रुचि नहीं थी, तब मैं पुण्य-पाप, काम-क्रोध, शुभाशुभ विकल्प का कर्ता होता था। परन्तु स्वभाव का भान होने पर वह विकार, जो पुण्य-पाप और काम-क्रोधादि क्षणिक विकारदशा है, वह मेरा इतना कार्य नहीं। मेरा (कार्य) तो शुद्ध चिदानन्दस्वभाव-सन्मुख ढलकर शुद्ध आत्मा निर्विकल्प, आत्मा का स्वभाव निर्विकल्प शान्तभाव का कर्ता है। आत्मा का स्वभाव सम्यग्दर्शन में, सम्यग्दर्शन में; मिथ्यादर्शन में विकार का कर्ता है। मिथ्यादृष्टि भ्रान्ति, इन पुण्य-पाप आदि विकार का कर्ता और भोक्ता है। ज्ञानी अपने स्वरूप का भोक्ता और कर्ता है। पर का कर्ता-

भोक्ता तो अज्ञानी भी नहीं है। शरीर, वाणी, मन, स्त्री, लड्डू, पैसे का भोक्ता और कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं है; और कर्म का कारक जो है, उस जड़ की अवस्था का कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं है। अज्ञानी अपने पुण्य और पाप, काम और क्रोध विकार की अवस्था करे और हर्ष-शोक को भोगे। उस विकार की स्वतन्त्रता स्वीकार करके, पर्याय पलटती स्वीकार की, निमित्त कर्म को स्वीकार किया। है, बस इतना। वे मुझे कराते हैं और वे हैं, इसलिए मुझमें होता है, ऐसा नहीं है। तथा देव-गुरु-शास्त्र जगत में हैं, इसलिए मैं धर्म प्राप्त करता हूँ, ऐसा भी नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र तो जगत में सदैव है, तब तो वे हैं तो सबको धर्म प्राप्त करना चाहिए।

जब मैं आत्मा को अपने स्वभावसन्मुख देखता हूँ, तब धर्म समझ में आता है, और तब देव-गुरु-शास्त्र को निमित्तरूप से कहा जाता है। इस प्रकार विकार को, स्वभावसन्मुख देखकर, देखना छोड़कर, जब परसन्मुख देखकर पुण्य-पाप, काम-क्रोध के विकार करता हूँ, तब कर्म जो है, उसे निमित्तरूप से कहा जाता है। इतनी प्रतीति और श्रद्धाभाव करे, पश्चात् गुलाँट खाये। ...भाई! कहो, समझ में आया? अभी कहीं घोटाले में पड़ता हो कि विकार कोई कराता है और धर्म कोई आवे तो होता है। मेरा ज्ञान कोई आवे तो होता है अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र के अवलम्बन से ज्ञान होता है और धर्म कर्म के अवलम्बन से होता है। इस प्रकार पर के कारण हुआ करे, ऐसा माने, उसे स्वभावसन्मुख श्रद्धा करने का प्रसंग नहीं रहता।

अहो! ऐसी समझ अनन्त काल में एक सेकेण्डमात्र भी नहीं की। बाकी इसने सब किया। महीने-महीने के खमण के पारणा किये। नौवें ग्रैवेयक गया। नौवें ग्रैवेयक! महीने-महीने के, छह-छह महीने के अपवास, चतुर्विध आहार (त्याग के) कड़क, शरीर को चूरा / जीर्ण बनाया परन्तु स्वरूप क्या है, यह सत्समागम बिना और इसकी पात्रता बिना एक सेकेण्डमात्र भी समझ में नहीं आया। इसलिए श्रीमद् कहते हैं। देखो! इन दो लाईनों में बहुत रहस्य आ गया है। अपने अन्तिम लाईन यह रखी है। फिर अन्त में तो उन्होंने... एकदम अन्तिम शब्द यह है कि —

सुखधाम अनन्त सुसन्त चहि,
दिन रात रहे तद ध्यान मही

प्रशान्ति अनन्त सुधामय जो,
प्रणमूँ पद ते वरते जयते॥

यह अन्तिम शब्द हैं। इनके पहले की पहली लाईन कही थी। 'सुखधाम अनन्त सुसन्त चहि...' वहाँ भी यह रखा है, हों! मेरे आत्मा की शान्ति और आनन्द चाहिए हो तो 'सुखधाम अनन्त सुसन्त चहि...' अनन्त सुख का धाम जो आत्मा, उसे प्रगट करने की जिसे इच्छा हो, सच्चे सन्त स्वरूप को समझे हुए और स्वरूप क्या है, उसे समझानेवाले, उसे चहि-.... 'सुखधाम अनन्त सुसन्त चहि, दिन रात रहे तद ध्यान मही।' सन्तों ने कहा हुआ मार्ग, यह स्वरूप आत्मा ज्ञानानन्द हूँ, उसकी रुचि के झुकाव में बारम्बार रहे और इच्छावृत्ति का उत्थान होवे तो देव-गुरु-सन्तों की भक्ति का भाव हो। 'दिन रात रहे तद् ध्यान मही'।

'प्रशान्ति अनन्त सुधामय जे,...' भगवान आत्मा की जो धर्मधारा, धर्मधारा। यह पुण्य-पाप की विकारधारा, यह जहर धारा है। क्या है? चन्दुभाई! आत्मा के अन्दर पर्याय की अवस्था में शुभाशुभविकल्पों की वृत्ति, वह जहरधारा, दुःखधारा और कष्टधारा है। वह स्वभाव का स्वरूप समझकर जो अन्तर शान्ति में से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के जो धर्म की धारा प्रगट हुई, धर्मदशा कहो, धर्मधारा कहो, धर्म पर्याय कहो, धर्म अवस्था कहो, 'प्रशान्ति अनन्त सुधामय जे...' सुधामय चैतन्यधारा। और राग-द्वेष... मय... यह आता है। बनारसीदास में आता है। बनारसीदास कहते हैं कि वह जो पुण्य-पाप का विकार होता है, वह मुधा। मुधा अर्थात् मुर्च्छाई और दुःखदायक है तथा स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना और स्थिरता करना चैतन्य की (स्थिरता करना वह) सुधामय धारा है।

'प्रशान्ति अनन्त सुधामय जे, प्रणमूँ पद ते वर्ते जयते।' अन्तिम जय करके यह पद पूरा कर दिया है। 'प्रणमूँ पद ते।' उस परमात्मस्वरूप की प्रशान्ति अनन्त जो पाये, ऐसे परमात्मा के पद को मैं नमस्कार करके और वह परमात्मपद वर्ते जयते। वर-वर प्रधान, वह जयते। उस परमात्मपद की जय हो! ऐसा कहकर यह अन्तिम पद पूरा किया है। और फिर थोड़े दिनों में मृत्यु को—समाधिमरण से पूरा किया है। यह चैत्र शुक्ल नवमी को यह पद किया था और वह वैशाख कृष्ण पंचमी को किया था।...भाई!

भाई! परन्तु विचार करे और मध्यस्थ से देखे, उसे समझ में आये ऐसा है। क्या हो? किसी की दशा किसी को जबरदस्ती समझायी जा सके, ऐसी ताकत केवली भी नहीं रखते। केवली तीर्थंकर अनन्त हो गये। अभी महाविदेहक्षेत्र में वर्तते हैं। भविष्य में अनन्त भरत आदि में होनेवाले हैं, होंगे। किसी की ताकत नहीं है कि बलजोरी किसी को समझा दे। उस जीव को समझने की योग्यता होगी, तब वैसे निमित्त उपस्थित होते हैं। यह अन्तर की सुधामय धारा प्रशान्त चैतन्यमूर्ति का भान करके, शान्ति (वेदन करे) और मृत्यु के समय, भाई! यह सब शरीर अंग सब शिथिल पड़ जाए, अवयव ढीले पड़ें, पेशाब, दस्त सब। अब यदि यह साधन हो तो उस समय साधन तो कुछ रहता नहीं। बाहर में यदि धर्म का साधन हो या खड़े होकर मन्दिर जाया नहीं जाए, खड़े होकर उपाश्रय जाया नहीं जाए, खड़े होकर कोई मन्दिर जाया नहीं जाए। यदि बाहर में होवे तो धर्म तो कहीं होने का अवसर रहता नहीं।

भगवान! धर्म का धारण तो आत्मा अन्दर है। यह ऐसी जिसने प्रथम दृष्टि पुण्य-पाप, शरीर, वाणी, मनरहित सच्ची पहिचान की है, उसे देह के अंग सब भले शिथिल पड़ जायें। आँख देखे नहीं, शरीर काम करे नहीं, मौसम्बी डाले तो पेशाब पानी होकर निकल जाए। होता है न अन्त में? विष्टा होकर निकल जाए। क्या यह तो मिट्टी है। माँस है, हड्डियाँ, चमड़ी, उसकी पर्याय पलटने पर आत्मा रखने को समर्थ नहीं है। वह पेशाब होने पर थैली ढीली पड़ी, रखना चाहे तो रहे नहीं, एकदम निकल जाएगी। और कब्जियत है तो विष्टा रहे। नहीं तो जहाँ विष्टा का अंग शिथिल हुआ अन्दर, कहते हैं न बन्धकोश ढीला पड़ा, ऐसा कहते हैं। मैं ढीला पड़ा, ऐसा नहीं कहते। यह परमाणु की अंतणियाँ बन्धकोश ढीला पड़ा (इसलिए मल सरसराट निकलेगा)। कहाँ करेगा धर्म?

पहचानकर आत्मा अन्दर चिदानन्द है। वर्तमान अधर्म की दशा क्षणिक पुण्य-पाप, काम, क्रोध तेरी भूल से होते हैं। स्वभाव का भान होने पर भूल नहीं रहती। ऐसे स्वभाव की पहचान कर तो चाहे जैसे परमाणु की अवस्था में भी स्वभाव का साधन (कर सकेगा)। मृत्यु के समय आँख भले न देख सके, कान भले न सुन सके, जीभ भले न बोल सके, नाक भले न सूँघ सके, स्पर्श भले स्पर्श न कर सके। अरे! मन के

परमाणु में भी कदाचित् शिथिलता भले हो जाए। यहाँ जड़ मन विचार का निमित्त कहता हूँ। परन्तु चैतन्यद्रव्य की जिसने पहले सत्समागम से पात्रता से दृष्टि की पहिचान की है और अन्दर में शान्ति का आश्रय किया है, (वह) मृत्यु के समय भी शान्ति के अमृत के झरने, अमृत के झरने झरते आत्मा के अमृत के अनुभव की डकार आने पर शरीर छूट जाए, ऐसी दशा को समाधिमरण और पण्डितमरण कहते हैं।

ऐसे बाहर से कहे, करो प्रत्याख्यान, भाई! परन्तु क्या किसका प्रत्याख्यान? अभी अन्दर अज्ञान का तो प्रत्याख्यान हुआ नहीं। अभी अज्ञान, राग-द्वेष, पुण्य-पाप कौन है, वस्तु स्वभाव क्या है, इसका श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव किया नहीं। उसकी क्या दशा पहले से जानी नहीं, उसे मृत्यु के अवसर में शरण कौन है? मृत्यु के समय कोई शरण नहीं है। उस मृत्यु के समय शरीर रहा नहीं, वाणी सुनने को रही नहीं, ऐसे आँख पढ़ने को पुस्तक रही नहीं, भगवान को देखने को और गुरु के दर्शन करने को कोई साधन रहे नहीं। अब साधन वहाँ कुछ है? ...भाई!

जिसने पहले से आत्मा का स्वभाव क्या है, विकार क्षणिक क्या है, निमित्त धर्म को समझानेवाले कौन हैं, अधर्म में निमित्त कौन थे, इन दोनों में मैं कर्ता-भोक्ता था, दूसरा कोई था नहीं। स्वभाव का भान करके जिसने शान्ति प्रगट की है, वह धर्म मृत्यु के समय भी ऐसे तालियाँ देते जाता है अब। कहाँ? कि पूर्ण पद की प्राप्ति लेने। इस काल में पूर्ण पद प्राप्ति हुई नहीं, हमारा वीर्य काम किया नहीं, बहुत शीघ्रता से प्रवास पूरा करना था, परन्तु हुआ नहीं परन्तु वस्तु के स्वरूप के ध्यान और एकाग्रता होने पर वह अधूरा रहा, वह बाकी आगामी देह में एक स्वरूप की स्थिरता बाकी है, इसलिए पूरा होगा। उसमें शंका योग्य है नहीं।

अशेष कर्म का भोग है, बाकी रहा अवशेष रे।
इससे देह एक धारकर, जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे॥

वहाँ तो जाऊँगा, मुझे खबर है। 'जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे।' परन्तु जाऊँगा कहाँ? यह तो होऊँगा कहा। जाना है कहाँ? इस चैतन्य के स्वरूप का जो भान होकर अधूरा जो रहा था, उस स्वरूप में पूर्ण हो जाऊँगा। यह कोलकरार करके ज्ञानी देह छोड़कर जाता है।

यही परमपद प्राप्ति का किया ध्यान में।
गजा बिना और ख्याल मनोरथ रूप जो॥

...सर्वज्ञ होने का अभी क्षमता नहीं है, ऐसा। समझ में आया? 'यही परमपद प्राप्ति का किया ध्यान में।' ध्यान तो किया है। स्वरूप रागरहित, पुण्यरहित, विकल्परहित, शरीररहित है।

गजा बिना अरु हाल मनोरथ रूप जो।
तो भी निश्चय राजचन्द्र मन में रहा।
प्रभु आज्ञा से होऊँगा वही स्वरूप जो।

सर्वज्ञ कहते हैं कि ऐसी दशा हो, उसे पूर्ण काल में परमात्मा हो, इसका हमें विश्वास है। प्रभु की आज्ञा है और हमारा विश्वास है। दोनों एक हों अर्थात् परमात्मदशा आगामी भव में पूर्ण हमारी होनेवाली है। ...भाई! यह किसे पूछने जाना पड़ता होगा? भगवान को पूछने जाना पड़ता होगा? गुड़ मीठा लगे, इसलिए किसी को पूछने जाना पड़े कि यह गुड़ कैसा मीठा होगा? यह मिश्री कैसी मीठी होगी? यह मिर्च कैसी चरपरी होगी? खावे उसे खबर पड़ती है। इसी प्रकार आत्मा का श्रद्धा, ज्ञान और भान होने पर यह अधूरा रहा, प्रारब्ध में किंचित् कर्म बाकी है, इसलिए हमारी निर्बलता है और उसमें निमित्त कर्म है।

'अशेष रहा बाकी' यह आगामी में पूरा करके पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करूँगा, ऐसी कोलकरार हाथताली देकर गये। ...भाई! भगवान! उस जीव को समझना, धर्मी को पहचानना, यह बहुत आग्रह छोड़े, सत् समझे, तब (समझ में आता है।) अनन्त काल से अनन्त भव किये परन्तु जीवों ने ज्ञानी को अपने भाव में पहिचाना नहीं। अपने भावों में पहिचाना नहीं—आत्मा के भाव में। राग द्वारा, पुण्य द्वारा यह कुछ है, ऐसी महिमा मानी परन्तु वास्तविक वस्तु का स्वरूप जाना नहीं, इसलिए यहाँ समाधिमरण का दिन है, इसलिए अपने 'उपजे मोह विकल्प से...' उठाकर अन्तिम समाधि की दृष्टि पहले करके, समाधि की स्थिरता हुई और आगामी (भव में) हमारा पूर्ण हो जाएगा।

लोगस्स में भी कहते हैं, 'समाहिवर मुत्तम्मं दिंतु'—नहीं आता उसमें? लोगस्स

में आता है। समाहिवर... वह समाधि कौन ? यह नहीं, हों ! समाधि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् पण्डितमरण। यह उसे समाधि कहते हैं। 'समाहिवर मुत्तम्मं दिंतु'। हे नाथ ! हे आत्मा ! ऐसा तो निमित्त से कहते हैं, हों ! निमित्त कौन दे देवे, ऐसा है ? परन्तु बोलणी। निर्मानपने की भाषा है। ऐसे स्वभाव में कहते हैं, 'समाहिवर मुत्तम्मं दिंतु'। अहो ! आत्मा पूर्ण शान्ति आनन्दकन्द अब वर, ऐसा दान मुझे दे। यह वरदान अब दे और अन्दर से निकल एकदम अन्दर से और परमात्मा शक्ति में स्थित है, वह प्रगट हो, ऐसी ज्ञानी की अन्तरद्रव्य की माँग है। अन्तर की भावना होती है, वह भावना पूरी हुए बिना नहीं रहती। यह इसके समाधिमरण और इसके ज्ञानी और धर्मात्मा गुणगान करते हैं। उसका मनाया जाता है। बाकी अज्ञानी के अनन्त बार तो पिल्ले और केंचुआ जैसे बहुत जन्मे और बहुत मरे। राजा भी बड़े पाँच-पाँच करोड़ के रियासतदार... और मरे। लोग तो वापस उसमें निकालते हैं न ? राजाओं का क्या कहलाता है ? मांढवी में और शेड में। परन्तु मरकर गया हो नरक में। अधर्म किये हों इसलिए (गया हो नरक में)।

यहाँ तो धर्मात्मा का शरीर जीर्ण हो, चाहे जो स्थिति हो, स्वरूप का भान किया और जिस देह से छूटे, समाधि की, उस समाधि से पूर्ण समाधि होकर परमात्मा होनेवाले हैं। यह अधिकार पूरा किया।...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)